हाय! हुआ मैं नहीं बिहारी कवि के युग में

रीतिकाव्य पर एक पुनर्विचार

नामवर सिंह

इलाहाबाद संग्रहालय में मार्च, 2008 में सत्य प्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यानमाला का पहला व्याख्यान देते हुए नामवर सिंह ने आधुनिकता-पूर्व युग में रीतिकालीन काव्यांदोलन की उपेक्षा करने वाली हिंदी के साहित्येतिहास की प्रवृत्तियों का गहन आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया था। यह अनूठा व्याख्यान एक साहित्यिक विमर्श के एक दस्तावेज़ की तरह उनके प्रति श्रद्धांजलि-स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है।

आज हिंदी अध्ययन-अध्यापन और आलोचना में रीतिकाव्य पर बातचीत धीरे-धीरे बंद-सी होती जा रही है। मुझे लग रहा है कि रीतिकाव्य कहीं संग्रहालय की वस्तु बन कर न रह जाए। शिक्षण संस्थानों में साहित्य को पढ़ाने की जो एक ऐतिहासिक दृष्टि विकसित हो गयी है, वह भी इसके लिए ज़िम्मेदार है। पढ़ाते समय यह एहसास कराया जाता है कि आप आदिकाल पढ़ रहे हैं, मध्यकाल पढ़ रहे हैं और आधुनिक काल पढ़ रहे हैं। ख़ासतौर से इस दौर में मुनासिब तो लोग यह समझते हैं कि भूमण्डलीकरण के लायक़ कोई नया विषय चुनते तो अच्छा होता। मुझे याद है कि हिंदी साहित्य में एक दौर में, सन् साठ के आसपास आधुनिकता, आधुनिकतावाद आदि की चर्चाएँ खूब होती थीं। अस्सी के बाद देखिए तो उत्तर आधुनिकता की चर्चाएँ खूब चलीं, गोकि जिन्हें ख़बर नहीं कि पश्चिम में भी उत्तर-आधुनिकता का दौर 1991 के बाद से ख़त्म हो गया है। अब वहाँ भी 'पोस्ट-मॉडर्निज़म' का नाम नहीं लिया जाता। इसलिए हम

लोग उत्तर-आधुनिक नहीं, उत्तरोत्तर आधुनिक दौर में हैं। ऐसे में मुझे लगता है कि अतीत की ओर लौटकर क्यों न हम पूरा साहित्य समकालीन मान कर पढ़ें। हम लोग इतने नितांत समसामयिक हो गये हैं कि यह भूल ही गये हैं कि साहित्य की हमारी पूरी विरासत समकालीन है। ज़रूरत है, समकालीनता-बोध पैदा करने की। अगर अब भी हम नहीं सँभले तो सम्भव है कि यह विरासत हमसे छूट जाए। यहाँ पर मुझे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की वह कविता याद आ रही है, जो ब्रजभाषा में है—

मुरि देख्यौ निज पथ मिल्यौ, दुइ पद चिह्न अनेक।
पै वा पथ पै ना मिले चारि चरन के लेख ॥

इस नितांत समसामयिक समय में मुड़कर देखता हूँ तो डर लगता है कि कहीं ऐसा न हो कि साहित्य की परम्परा से चार चरण का लेख ही ग़ायब हो जाए, बची रहे केवल दो चरण की रेखा। इसलिए मैंने जान-बूझकर रीतिकाव्य को बातचीत के लिए चुना है।

रीतिकाव्य अब हमारा समसामयिक नहीं लगता। उसे बीती हुई वस्तु के रूप में या तो दयापूर्वक हम याद करते हैं या पाठ्यक्रम में हिकारत से रखते हुए एहसान जताते हैं। मुझे कहते हुए गर्व हो रहा है कि यहीं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रामशंकर शुक्ल 'रसाल' जैसा रीतिकाव्य का मर्मज्ञ विद्वान था; उमाशंकर शुक्ल जैसा अध्येता था, जिन्होंने सेनापति के *कवित्त-रत्नाकर* का सम्पादन किया था। यहाँ जगदीश गुप्त जैसा विशेषज्ञ था, जिन्होंने बहुत ही विवेक सम्पन्न संकलन रीतिकाव्य का सम्पादित किया। सत्यप्रकाश मिश्र इसकी बची हुई अंतिम कड़ी थे। ऐसे विश्वविद्यालय में सम्भव हो कि रीतिकाव्य पढ़ाने वाला अध्यापक भी नहीं मिले और विशेष काव्य-खण्ड के रूप में इसे लेकर पढ़ने वाला तो अब कोई मिलेगा ही नहीं कि इसकी क्या उपयोगिता है। इसलिए, इसी जगह (इलाहाबाद) से, जब वो लोग नहीं हैं तो मुझे उचित प्रतीत होता है कि रीतिकाव्य पर पुनर्विचार करना चाहिए।

एक दौर था, जब मेरे गुरु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी शांति निकेतन में थे तब उन्होंने एक कविता लिखी थी। वह कविता रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कविता से प्रेरित थी। रवींद्रनाथ की वह कविता थी— 'शेई काले' (वह समय)—

जदि आमार जनम होती कालिदासेर काले
दैबे होतो दशम् रत्न नव रत्न माझे

सौभाग्य से यदि मेरा जन्म कालिदास के समय में हुआ होता तो नवरत्नों के बीच मैं भी दसवाँ रत्न होता। द्विवेदीजी ने उसी से प्रेरित होकर कविता लिखी—

यदि मैं होता रसिक बिहारी कवि के युग में
हाय! हुआ मैं नहीं बिहारी कवि के युग में
रस रसिक तमाल साल/ थे जब सोन जुही मालती क्रियाल थे
आँसू बहाते अपने ही गुलाब के युग में
अमल लहलही बेलि नवेली/सुरभित करनी बिपिन अकेली
रसिक पवन करता रणरेली
सघन कुंज छाया सुखद शीतल मलय समीर।
मन ह्वौ जात अजहुँ वहै या यमुना के तीर॥

'हाय! हुआ मैं नहीं बिहारी कवि के युग में' ऐसी भावना एक दौर में थी। मैं उस युग में पैदा क्यों नहीं हुआ, उस अतीत को लोग याद करते थे। उस अतीत को हम लोगों ने जैसा बीता हुआ मानकर, इतिहास की आधुनिक/औपनिवेशिक दृष्टि से प्रभावित होकर जो धारणा विकसित की, वह धारणा ही ग़लत थी। साहित्य वालों ने इसे तीन कालों में बाँट रखा है— आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल। इतिहास के लोगों ने इसे दूसरे ढंग से बाँट रखा है— एंशियट एज, मेडिवल एज और मॉडर्न एज। हिंदी और इतिहास के विभागों में यह पूरा पैटर्न आज तक दुहराया जा रहा है। एडवर्ड सईद ने

अपनी 'ओरिएंटलिज़म' की अवधारणा में इसी को उद्घाटित किया है कि पश्चिम वालों ने जो इतिहास हमें दिया उसी साँचे में ढालकर हम अपने इतिहास को देखने के आदी हो गये हैं।

मैं यहाँ 'मेडिवल एजेज' की अवधारणा पर विचार करूँगा। यह 'मध्यकाल' शब्द यूरोप में जो अर्थ रखता है, कभी इस पर हमारे इतिहासकारों को भी सोचना चाहिए कि वह हमारे देश पर लागू होता है कि नहीं लागू होता है। यूरोप में रोमन एम्पायर के पतन के बाद, लगभग पाँचवीं शताब्दी से पंद्रहवीं शताब्दी तक का काल, पतन का काल माना जाता है। हम उसे अंधकार युग (डार्क एज) भी कहते हैं, जो क्रिश्चिएनिटी से जुड़ा है। सोलहवीं शताब्दी से जब एक नया विज्ञान आता है, रेनेसाँ शुरू होता है और आधुनिक भाषाओं में कविता लिखी जाती है। इसके पूर्व का पूरा का पूरा दौर लैटिन भाषा का है। आधुनिक योरोपीय भाषाएँ उस समय वर्चस्व में नहीं आयी थीं। इसीलिए पाँचवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक के काल को मेडिवल एजेज, डार्क एजेज या मेडिवल पीरियड आमतौर से कहा जाता है। अब इसके बरअक्स अगर आप देखें तो इसी रूप में भारतीय इतिहास पर यह कैसे लागू होगा? पाँचवीं शताब्दी के काल को याद करें तो यह काल चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और कालिदास का काल है। यहाँ से लेकर जब आप 1600 के आसपास तक देखते हैं तो 'अकबर महान' जैसा सम्राट है। खुद अंग्रेज़ इसे 'ग्रेट मुगल पीरियड' कहते हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि आठवीं से दसवीं शताब्दी तक का काल क्षीण काल है, पर यह भी उत्तर भारत के संबंध में ही सच हो सकता है, पूरे देश के संबंध में नहीं। उन दो-तीन सौ वर्षों में महाराष्ट्र को याद करें, गुजरात को याद करें तो राष्ट्रकूटों का काल बहुत ही गौरवशाली काल रहा है। इसलिए यह बात कहते समय हम केवल हिंदी साहित्य को ध्यान में न रखें महान प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य इसी काल में लिखा गया। दक्षिण में देखें तो लगभग नौवीं शताब्दी के आसपास महान संगम हुआ है जो हमारे यहाँ के रीतिकाव्य से मिलता-जुलता है। ठीक इसी के लगभग, आलवार भक्तों का आंदोलन शुरू होता है। उड़ीसा में यही हाल है। इसलिए इस विशाल देश में सच पूछिए तो यूरोप जैसी अंधकार युग (डार्क एज) वाली स्थिति कभी थी ही नहीं। यह पूरा का पूरा काल विकसित काल रहा है। इसी काल में महान दार्शनिक शंकराचार्य, रामानुजाचार्य हुए हैं। नव्य न्याय का पूरा का पूरा विकास इसी काल में हुआ। आनंदवर्द्धन का, मम्मट का, अभिनवगुप्त पादाचार्य का, जगन्नाथ का यही काल है। इसलिए यह अद्भुत समृद्धि और विकास का काल रहा है, फिर भी हम लोग उसको मध्यकाल की पतनोन्मुख प्रवृत्ति के तहत समझते और परखते रहे हैं।

सबसे ख़राब तो हिंदी साहित्य के इतिहास का संदर्भ है। हमने मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल में बाँट लिया। ऐसा हमने अपनी सुविधा के लिए किया कि भक्ति काव्य अलग हो जाए तो रीतिकाव्य को ही हम ख़ासतौर पर पतन का काव्य कह सकें, दिखा सकें। जबकि हम भूल जाते हैं कि इसी काल में (जिसे पूर्व मध्यकाल कहा जाता है) विद्यापति और अमीर खुसरो जैसे कवि हुए हैं। फ़ारसी की परम्परा की दृष्टि से यह दौर अत्यंत गौरवशाली है। संगीत को लें तो खुसरो के साथ ख़्याल गायकी शुरू होती है। स्थापत्य को लें तो इस काल में स्थापत्य कितनी ऊँचाइयों तक पहुँचता है। दक्षिण के मदुरै का मीनाक्षी मंदिर, उड़ीसा का कोणार्क मंदिर विशाल स्थापत्य की निशानी हैं। इस समय मूर्तिकला पूरी समृद्धि पर रही है। अत: जिसे हम तथाकथित मध्यकाल कहते हैं और जिसके प्रति हमारी दृष्टि 'ओरिएंटल दृष्टि' है, वह बदलनी चाहिए। इतिहासकार इसे बदलें या न बदलें, वे जानें, पर साहित्य व संस्कृति का इतिहास लिखते समय हम यूरोप के उस मॉडल को छोड़ दें और रीतिकाव्य को भारतीय दृष्टि से मध्यकाल का हिस्सा मानकर अपनी दृष्टि बदलें।

इस पूरे काल को देखते हुए पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं इस 'मध्ययुग' शब्द पर विचार किया है, परंतु देर से। 1970 में उन्होंने चंडीगढ़ में 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' नामक व्याख्यान दिया था, जो किताब के रूप में प्रकाशित है। उन्होंने मध्यकाल को कालवाचक न मानकर 'जबदी हुई

मनोवृत्ति' कहा है। नाक में जब जुकाम हो जाता है तो नाक जबद जाती है, यह भोजपुरिया शब्द है। यह मनोवृत्ति पतन का या अंधकार युग का अर्थ देती हो, ऐसा नहीं है, इसीलिए इसे प्रवृत्ति रूप में लेना चाहिए न कि कालवाचक रूप में। द्विवेदी जी ने स्वयं गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहा है। अकबर का काल उसके बाद दूसरा स्वर्णयुग है।

रीतिकाव्य के बारे में हमारे साहित्यकारों की क्या धारणा रही है, इसे भी देखा जाना चाहिए। इस बारे में मिली-जुली प्रतिक्रिया रही है। सबसे पहले यदि हम छायावादी कवियों की बात करें तो ये कवि रोमांटिक भावधारा से अनुप्रेरित थे। अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविता का असर इन पर पड़ा था। रोमांटिक कवियों ने सबसे पहले अपने पूर्ववर्ती काल के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया की कि न हम उस भाषा में लिखेंगे और न उन विषयों पर लिखेंगे। पंत जी ने *पल्लव* की भूमिका में रीतिकालीन कवियों का बहुत मज़ाक उड़ाया है। परंतु इस मज़ाक के बावजूद पंतजी की कविताएँ देखें तो *पल्लव* में वे 'रति श्रांता बृज वनिता-सी छाया' की उपमा देते हैं। छाया कैसी है तो 'रति श्रांता बृज वनिता सी'। बादल पर लिखते हुए पंत जी बिल्कुल ही रीतिकालीन लगते हैं। यह पंक्ति देखें—

धूम धुँआरे काजर कारे हमहीं बिकरारे बादर
मदनराज के बीर बहादुर पावस के उड़ते फणिधर

यह भाषा पूरी की पूरी रीतिकाव्य से ली हुई प्रतीत होती है। 'यमुना के प्रति' निराला की कविता है। निराला लिखते हैं—

कहाँ छलकते अब वैसे ही ब्रज नागरियों के गागर।
कहाँ भीगते अब वैसे ही बाहु उरोज अधर अम्बर॥

निराला की एक अन्य कविता है— 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खोली होली', एकदम सवैया का खड़ी बोली में प्रयोग—

नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली।
जागी रात सेज प्रिय पति संग रति सनेह संग होली,
खुले अलक, मुँद गये पलकदल,
श्रम-सुख की हद होली बनी रति की छवि भोली

ये निराला हैं। निराला की *गीतिका* के गीतों में जगह-जगह रीतिकाव्य की शब्दावली दिखाई देगी, अनुभव दिखाई देगा। प्रसाद जी तो काफ़ी दिनों तक ब्रजभाषा में लिखते रहे— 'हिल उठे हिय जहाँ आसन तिहारो, तौ तुम ना हिलत ऐसे अचल न होइए।' जैसे कि जगन्नाथ दास रत्नाकर लिख रहे हों। 'हिल उठे हिय जहाँ आसन तिहारे' जिस हृदय पर तुम्हारा आसन है वह तो हिल रहा है, काँप रहा है पर 'तौ तुम ना हिलत ऐसो अचल न होइए', तुम नहीं हिल रहे हो परंतु जिस आसन पर बैठे हो, जिस कुर्सी पर बैठे हो वह कुर्सी हिल रही है। यह विरोधाभास पैदा करना है। प्रसाद जी *आँसू* में लिख रहे हैं, जो रोमांटिक कविता की किताब मानी जाती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा नि:श्वास मलय के झोंके
मुख चंद्र चाँदनी जल से मैं उठता था मुँह धो के

रीतिकालीन कवि भी परिरम्भ का ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते थे। इसलिए निराला, पंत, प्रसाद तक लाख विरोध के बावजूद रीतिकालीन काव्यभाषा और अनुभव आते हैं। फ़र्क़ इतना था कि ये लोग ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली में लिख रहे थे। पर खड़ी बोली में वही लालित्य, शृंगार के प्रीत्यर्थ वर्णनों में दूर-दूर तक वही झलक दिखाई पड़ती है। इसलिए कविता के स्तर पर बहुत कुछ भाव-अनुभाव तो हमें स्वीकार है किंतु आलोचना के स्तर पर उनका विरोध करना अनिवार्य है। वही बात कि आलोचना में जो ठीक पूर्ववर्ती है यदि उनको उखाड़ेंगे नहीं तो हम जमेंगे कैसे? मैं इसे शांत विरोध धर्म मानता हूँ।

आलोचकों की नज़र से देखें तो अजीब भ्रम है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा— इन तीनों आलोचकों को लें तो रीतिकाल के प्रति इनकी जो भावना है, उसके बारे में भ्रम है। आमतौर पर लोग यह समझते हैं कि ये रीतिकाव्य के विरोधी आलोचक हैं। मैं इन आलोचकों की कुछ सम्मतियाँ आप सबके सामने पेश करना चाहता हूँ। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है— 'रीतिग्रंथों के रचयिता भावुक, सहृदय और मृदुल कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय निरूपण करना। अत: उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों, विशेषत: शृंगार रस और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत ही प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।' आचार्य शुक्ल दाद देने में बड़े कंजूस थे, लेकिन खुल कर यहाँ रीतिकालीन कवियों के बारे में उनकी धारणा प्रस्तुत है। एक-एक कवि के बारे में जो उन्होंने लिखा है, उसमें तो उन्होंने बिहारी की, देव की, मतिराम की, घनानंद की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। पर, शुक्ल जी के यहाँ किंतु भी है और यह किंतु इस प्रकार शुरू होता है— 'इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। कवियों की दृष्टि एक प्रकार से बँधी हुई और सीमित हो गयी। क्षेत्र संकुचित हो गया। कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का असर बहुत ही कम रह गया।' अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो मुझे दो बातें कहनी हैं। पहली तो यह कि कालिदास का हम क्या करें क्योंकि उन्होंने तो एक ही रस में बँधकर लिखा। क्या इससे उनकी दृष्टि सीमित मान ली जाएगी? दूसरी बात यह कि प्रत्येक रीतिकालीन कवि की अपनी व्यक्तिगत पहचान है। बिहारी को पढ़कर कभी भी आपको यह भ्रम नहीं होगा कि यह किसी और का दोहा है। घनानंद और मतिराम में आपको साफ़ फ़र्क़ मालूम होगा, देव और घनानंद में फ़र्क़ मालूम होगा। हर कवि की अपनी निजी विशिष्टता है।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी लगभग इसी तरह से, थोड़ी बँधी हुई शब्दावली में लिखते हैं— 'इससे अधिक सरस, स्फूर्तिदायक और लोक-जीवन को समझने में सहायक साहित्य मेरी जानकारी में दूसरा नहीं मिलता।' द्विवेदी जी ने यहाँ पर लोक-जीवन पर ज़ोर दिया है। वे आगे लिखते हैं— 'लोक-भाषा में यह राग, जो बहुत दिनों तक भीतर ही भीतर पक रहा था, शास्त्र की उँगली पकड़कर अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा।' द्विवेदी जी का ज़ोर बार-बार 'लोक' पर है। यह सच है, रीतिकाल में नागर का जो पुराना अर्थ था, वह घिस-घिसकर साधारण गृहस्थी के अर्थ में परिणत हो गया। सम्पूर्ण

पाँचवीं शताब्दी के काल को याद करें तो यह काल चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और कालिदास का काल है। यहाँ से लेकर जब आप 1600 के आसपास तक देखते हैं तो 'अकबर महान' जैसा सम्राट है। ... महाराष्ट्र को याद करें, गुजरात को याद करें तो राष्ट्रकूटों का काल बहुत ही गौरवशाली काल रहा है। ... महान प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य इसी काल में लिखा गया। दक्षिण में देखें तो लगभग नौवीं शताब्दी के आसपास महान संगम हुआ है जो हमारे यहाँ के रीतिकाव्य से मिलता-जुलता है। ठीक इसी के लगभग, आलवार भक्तों का आंदोलन शुरू होता है। उड़ीसा में यही हाल है। इसलिए इस विशाल देश में सच पूछिए तो यूरोप जैसी अंधकार युग (डार्क एज) वाली स्थिति कभी थी ही नहीं। यह पूरा का पूरा काल विकसित काल रहा है। इसी काल में महान दार्शनिक शंकराचार्य, रामानुजाचार्य हुए हैं। नव्य न्याय का पूरा का पूरा विकास इसी काल में हुआ। आनंदवर्द्धन का, मम्मट का, अभिनवगुप्त पादाचार्य का, जगन्नाथ का यही काल है। इसलिए यह अद्भुत समृद्धि और विकास का काल रहा है, फिर भी हम लोग उसको मध्यकाल की पतनोन्मुख प्रवृत्ति के तहत समझते और परखते रहे हैं।

रीतिकालीन कविता के प्रेम को, नायक-नायिका वर्णन को, महलों से जोड़कर देखना उचित नहीं। क्योंकि यह छोटे-से आँगन में, घर-गृहस्थी में, खेत-खलिहान के बीच होने वाला प्रेम है जो बार-बार बिहारी आदि में मिलता है। किंतु परंतु, द्विवेदी जी के यहाँ भी है। वे लिखते हैं— 'नायिका भेद की संकीर्ण सीमा में जितना लोक चित्र आ सका, वह विशिष्ट और मनोरम है लेकिन इतना दोष ज़रूर है कि वह असम्पूर्ण और विच्छिन्न है।' अत: 'किंतु' अथवा 'लेकिन' लगाकर इन आलोचकों ने रीतिकाव्य का विरोध किया है।

परिवर्तन शुरू होता है प्रगतिशील आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा की ओर से। वे तीसरे बड़े आलोचक व रीतिकाव्य के मर्मज्ञ हैं। उन्होंने 1943 में, जब तरक़्क़ी पसंद तहरीक़ शुरू हो चुकी थी, सम्भवत: वे उसके सदस्य भी हो गये थे, 'काव्य भाषा और युग बोध' नामक लेख लिखा। इसमें वे लिखते हैं— 'भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज स्वाभाविक ह्रास का चिह्न है। वाक्पटुता जबान का चटकारापन, अत्यधिक परिष्कार, बनाव-शृंगार आदि गुण तो पतनशील साहित्य में भी मिलते हैं। यह सही है कि हिंदी के पुराने कवियों में बिहारी और देव के अलावा भाषा को किसने सँवारा है, परंतु साहित्यिक और सामाजिक प्रगति में उनका क्या स्थान है। अंग्रेज़ी साहित्य में पोप से अधिक भाषा को सभ्य और परिष्कृत किसने बनाया है। पर हम जानते हैं कि पोप और उसके साथियों ने रोमांटिक कवियों के विद्रोह को अनिवार्य कर दिया, ये वाक्य पढ़ते हुए मुझे अनायास फ्रेडरिक जेमसन के एक लेख 'दि पॉलिटिक्स ऑफ़ प्लेज़र' की याद आ रही है। उन्होंने कहा कि, 'साहित्य के मूल्यांकन में मार्क्सवादी लोग क्यों इतने 'प्यूरिटन' होते हैं। आनंद की वस्तु से क्यों इनको इतना परहेज़ रहता है।' यही कारण है कि मार्क्स बनाम फ्रायड लिखते हुए फ्रायड का घोर विरोध इन लोगों ने किया था। यानी इनका बस चले तो सबको बंदी बना दिया जाए। इसलिए रीतिकाव्य के विरुद्ध दो प्रकार की चीज़ें खड़ी होती हैं। एक तो जो पोंगापंथी लोग हैं, जिनको संस्कृत कविता में अश्लीलता दिखाई नहीं पड़ती, रीतिकाव्य का विरोध अश्लीलता, नैतिकता जैसे सवालों के आधार पर करते हैं। दु:ख की बात तो यह है कि अपने को प्रगतिशील कहने समझने वाले लोग भी ऐसे सिद्धांत के आधार पर उन्हीं की पाँत में जा खड़े होते हैं। यानी, शेख-बरहमन दोनों— एक। इसलिए रीतिकाव्य दोनों ओर से मारा गया। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए रीतिकाव्य पर नये सिरे से पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

अब हमें रीतिकाव्य के संबंध में उस पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को, उसकी विडम्बनाओं को ध्यान में रखते हुए बात शुरू करनी चाहिए। यह ऐतिहासिक घटना है कि भारत में जहाँ पहले संस्कृत, प्राकृत और पालि जैसी प्राचीन भाषाएँ चली आ रही थीं, उनका वर्चस्व था। ऐसे समय में जो आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं— हिंदी है, मराठी है, गुजराती है, बांग्ला है, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, पंजाबी आदि हैं, इन सबका उदय पहली शताब्दी के बाद हुआ है। और उत्तर भारत में, मैं आमतौर से कहा करता हूँ कि यहाँ की भाषाओं को साहित्यिक रूप देने में अहम भूमिका सूफ़ियों ने निभाई है। पंजाबी का पहला कवि शेख फ़रीद तेरहवीं शताब्दी के आसपास होता है। हिंदी में तो अब साबित हो चुका है कि पहला हिंदी का कवि अवधी भाषा में लिखने वाला मुल्ला दाऊद है, जिसकी रचना *चंदायन* है। हिंदी में *चंदायन* पहली डेटेड किताब है— 1370 के आसपास की। अवधी में 1370 तक और कोई पुस्तक नहीं आयी। यह बात दूसरी भाषाओं के बारे में भी लागू होती है, पंजाबी और अवधी में तो है ही। मराठी पहली बार नामदेव के द्वारा साहित्य की भाषा बनती है। इन आधुनिक भाषाओं का साहित्यिक भाषा बनना एक ऐतिहासिक घटना है, वैसे ही जैसे यूरोप में रेनेसाँ के बाद लैटिन से आधुनिक इटैलियन भाषा का जन्म, जिसमें दाँते जैसा महान कवि हुआ। रेनेसाँ के बाद ही लैटिन से फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं का जिस प्रकार उदय हुआ, उसी तरह सबसे बड़ी घटना है— आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्यिक भाषा बनना। इसके अतिरिक्त एक जो सबसे ऐतिहासिक बात हुई

वह है— इस्लाम के साथ भारत का मेल-जोल। भले ही वे लोग आक्रमण के लिए भारत आये हों पर धीरे-धीरे दो मज़हबों, दो संस्कृतियों का मेल-जोल बढ़ा। नतीजा यह हुआ कि इस मेल-जोल के साथ फ़ारसी और संस्कृत का भी मेल हुआ जिससे कि उर्दू भाषा विकसित हुई। फ़ारसी और संस्कृत में आपस में संवाद था। इसके सबसे बड़े प्रमाण रीतिकाल के कवि हैं जो अपने ढंग से ग़ज़ल लिख रहे थे, रुबाई लिख रहे थे, दोहा जवाब था ग़ज़ल के शे'र का। जिसे हमारे इतिहासकारों ने उत्तर मध्यकाल कहा है, ग़दर के पहले तक का काल, वो उर्दू शायरी में नज़ीर अकबराबादी, मीर और ग़ालिब का काल है, गोल्डेन पीरियड है। ठीक उसके समानांतर हिंदी में जो कविता लिखी जा रही है, उसे क़ायदे से स्वर्ण युग कहने के बजाय पतन का काव्य कहा जाता है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की ओर मैं आप सबका ध्यान खींचना चाहता हूँ जिसके चलते रीतिकाव्य के प्रति यह धारणा विकसित हुई है। रीतिकालीन कविता को 'कोर्ट पोएट्री' कहा गया है और इस कथन के द्वारा हमें गुमराह करने का कार्य उसी इतिहास-दृष्टि ने किया है जो अंग्रेज़ों द्वारा बनाई गयी है। इस संबंध में पहला काम किया है जॉर्ज ग्रियर्सन ने। ग्रियर्सन का इतिहास आमतौर से बिना जाने हुए आचार्य शुक्ल दोहराते हैं तथा और दूसरे लोग दोहराते हैं। ग्रियर्सन के बाद स्टुअर्ट मैक्ग्रेगर का नाम आता है। इन दोनों को आप पढ़ें तो मालूम होगा कि इन लोगों ने बक़ायदा उर्दू का इतिहास अलग लिखा है और हिंदी का इतिहास अलग। रीतिकाव्य के बारे में इन दोनों ने जो टिप्पणियाँ की हैं, वे देखने लायक़ हैं। ग्रियर्सन लिखते हैं कि— 'हिंदुस्तान की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का स्वरूप 'ऑगस्टन एज' के साहित्य के समान है।' ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ी साहित्य में ऑगस्टन एज शेक्सपियर व एजिलाबेथन पीरियड के बाद का है और पतन का युग है, जबकि शेक्सपियर एज 'स्वर्ण युग' है। जो पोप का काल है वही है ऑगस्टन एज। अत: ऑगस्टन एज कहकर, रीतिकाल से उसका साम्य बताकर उसे पतन का काव्य कहा गया और हम लोगों ने उसे मान लिया और उसी साम्यता में इसे 'कोर्ट पोएट्री' भी मान लिया। कोर्ट के बारे में एक अजीब धारणा है हम लोगों की, जो कोर्ट में गया वह दरबारी हो गया। सच पूछिए तो आज दरबार ज़्यादा हैं, कोर्ट ज़्यादा हैं। मिनिस्टर, एम.पी. एम.एल.ए.— सबके दरबार लगते हैं। बीसवीं सदी में भी दरबार थे, इक्कीसवीं सदी में और अधिक हो गये हैं। उस समय का कोर्ट ऐसा नहीं था। चुने हुए लोग जो साहित्य, कला संगीत के प्रेमी थे, रसिया थे वे लोग एक जगह इकट्ठा होते थे।

बहुत से कवि तो ऐसे थे जो कोर्ट गये ही नहीं। देव किसी दरबार में नहीं थे, दरबार उन्हें मिला ही नहीं। अत: कोर्ट पोएट्री के बारे में हम अनजाने ही एक भोंडी और कठोर क्लास कांसेशनेस बना लेते हैं कि यह उच्च वर्ग की कविता है। यह अजीब बात है कि हम 'फ़्यूडल आर्ट' को, 'फ़्यूडलिज़म' को ख़राब समझते हैं और आधुनिक बुर्ज्वाज़ी को अच्छा मानकर चलते हैं। यह भूल जाते हैं कि कभी-कभी इस पूरी लड़ाई में मामला उलट भी सकता है। हम लोगों ने साहित्य, कला और काव्य को जाँचने-परखने के जो आधार विकसित कर लिए हैं, वे नितांत गैर-साहित्यिक और क्रूड सोशल व पॉलिटिकल समझ पर आधारित हैं। इसका नतीजा यह हुआ और होगा कि जो धारणा हमने परम्परा और पुराने साहित्य के बारे में बनाई, तय मानिए कि उसका शिकार आज की कविता, आज की कहानी, आज का उपन्यास भी हो सकता है। इसलिए रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन या उस पर पुनर्विचार केवल रीतिकाल से नहीं, हमारी साहित्यिक समझ से ताल्लुक़ रखता है और जब तक हम उस समझ को विकसित नहीं करते तब तक हम अपने इतिहास को विदेशियों की नज़र से पढ़ने-लिखने के लिए अभिशप्त हैं।

> **भक्ति और रीति एक साथ गुँथे हुए हैं। फिर भी हम लोग उसे अलग-अलग बाँटकर एक को महान् और दूसरे को पतन का साहित्य मान बैठे हैं। हम क्यों भूल जाते हैं कि तुलसीदास और केशवदास समकालीन थे। ... रीतिकाव्य के कवियों की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है— भाषा। इनकी भाषा इतनी साफ़-सुथरी है कि उर्दू के साथ प्रतिस्पर्द्धा करती है। जिस तरह से 'दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें, आठवें को ज़रा अइबो'— वाली मुहावरेदार भाषा में ये कवि लिख रहे थे, उसे देखकर लगता है कि जैसे ग़ज़ल का शे'र लिखा जा रहा हो, चलती हुई भाषा में। ब्रज, जो कि एक बोली थी, उसको साफ़ माँजकर इन कवियों ने इतनी मेहनत से जबान पर चढ़ने वाली भाषा का निर्माण किया कि क्या कहने। रीतिकाल की कविता एक बार पढ़िए तो याद हो जाए, छायावादी कविता इतनी जल्दी याद नहीं होती, नयी कविता तो बिल्कुल ही याद नहीं होती। जनता की भाषा में लिखी जाने वाली कविता, जनता की तो बात ही जाने दीजिए, हम लोगों की ज़ुबान पर नहीं चढ़ती। इसलिए रीतिकालीन कविता में जो भाषा की रवानी है, स्फ़ूर्ति है, वह महत्त्वपूर्ण है।**

उस समय के राजा भी पढ़े-लिखे हुआ करते थे। आज के हमारे जो आधुनिक राजा हैं, कम से कम उनके पास भाषा और साहित्य की समझ इनसे अधिक थी। वे कलाओं की समझ रखते थे। क्लासिकल संगीत, ख़्याल गायकी में रस ले सकते थे। इसलिए कोर्ट के बारे में हम लोगों की धारणा ठीक नहीं है। उसे दुरुस्त करना चाहिए। हम लोगों ने अंग्रेज़ी राज के राजाओं को देखा है, इसलिए समझते हैं कि अंग्रेज़ जब नहीं आये थे तब भी राजा ऐसे ही थे। कोर्ट के बारे में पूरी धारणा बदलने की ज़रूरत है क्योंकि इसमें क़िसिम-क़िसिम के कवि थे। बहुत से कवि तो ऐसे थे जो कोर्ट गये ही नहीं। देव किसी दरबार में नहीं थे, दरबार उन्हें मिला ही नहीं। अतः कोर्ट पोएट्री के बारे में हम अनजाने ही एक भोंडी और कठोर क्लास कांसेशनेस बना लेते हैं कि यह उच्च वर्ग की कविता है।

यह अजीब बात है कि हम 'फ़्यूडल आर्ट' को, 'फ़्यूडलिज़म' को ख़राब समझते हैं और आधुनिक बुर्ज़्वाज़ी को अच्छा मानकर चलते हैं। यह भूल जाते हैं कि कभी-कभी इस पूरी लड़ाई में मामला उलट भी सकता है। हम लोगों ने साहित्य, कला और काव्य को जाँचने-परखने के जो आधार विकसित कर लिए हैं, वे नितांत ग़ैर-साहित्यिक और क्रूड सोशल व पॉलिटिकल समझ पर आधारित हैं। इसका नतीजा यह हुआ और होगा कि जो धारणा हमने परम्परा और पुराने साहित्य के बारे में बनाई, तय मानिए कि उसका शिकार आज की कविता, आज की कहानी, आज का उपन्यास भी हो सकता है। इसलिए रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन या उस पर पुनर्विचार केवल रीतिकाल से नहीं, हमारी साहित्यिक समझ से ताल्लुक़ रखता है और जब तक हम उस समझ को विकसित नहीं करते तब तक हम अपने इतिहास को विदेशियों की नज़र से पढ़ने-लिखने के लिए अभिशप्त हैं।

ज़रूरत है कि हम अब इस इतिहास-दृष्टि को बदलें। ग्रियर्सन और स्टुअर्ट मैक्ग्रेगर हमें यह नहीं बताएँगे कि तुम्हारा इतिहास यह है। हमें अपनी हक़ीक़त को देखकर इस धारणा को बदलना होगा, मुक्त होना होगा। एडवर्ड सईद उसे ही बार-बार कहता है कि 'बिना 'ओरिएंटलिज़म' से मुक्त हुए इतिहास की उक्त धारणा से मुक्ति सम्भव नहीं है।' और यदि इतिहास की उस दृष्टि से प्रभावित होकर हमारे पूर्ववर्ती आलोचकों ने कुछ ऐसी धारणाएँ विकसित की हैं तो उनके चंगुल से भी मुक्त होने की ज़रूरत है। इन पूर्व धारणाओं से मुक्ति के बिना नये सिरे से रीतिकाल पर विचार नहीं हो सकता।

यह एक विचित्र विडम्बना है कि भक्ति और रीति एक साथ गुँथे हुए हैं। फिर भी हम लोग उसे अलग-अलग बाँटकर एक को महान् और दूसरे को पतन का साहित्य मान बैठे हैं। हम क्यों भूल जाते हैं कि तुलसीदास और केशवदास समकालीन थे। यह क़िस्सा

प्रचलित है कि प्रेत के वन में कुएँ से पानी निकालते हुए प्रेत ने उनका लोटा पकड़ लिया था। वह भले ही केशवदास का ही प्रेत रहा हो लेकिन तुलसीदास में अलंकारप्रियता कम नहीं है, बल्कि बढ़ी हुई है। इसलिए काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर *रामचरितमानस, विनय पत्रिका, कवितावली* आदि का पुनर्पाठ किया जाना चाहिए।

रीतिकाव्य के कवियों की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है— भाषा। इनकी भाषा इतनी साफ़-सुथरी है कि उर्दू के साथ प्रतिस्पर्द्धा करती है। जिस तरह से 'दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें, आठवें को ज़रा अइबो'— वाली मुहावरेदार भाषा में ये कवि लिख रहे थे, उसे देखकर लगता है कि जैसे ग़ज़ल का शे'र लिखा जा रहा हो, चलती हुई भाषा में। ब्रज, जो कि एक बोली थी, उसको साफ़ माँजकर इन कवियों ने इतनी मेहनत से जबान पर चढ़ने वाली भाषा का निर्माण किया कि क्या कहने। रीतिकाल की कविता एक बार पढ़िए तो याद हो जाए, छायावादी कविता इतनी जल्दी याद नहीं होती, नयी कविता तो बिल्कुल ही याद नहीं होती। जनता की भाषा में लिखी जाने वाली कविता, जनता की तो बात ही जाने दीजिए, हम लोगों की जबान पर नहीं चढ़ती। इसलिए रीतिकालीन कविता में जो भाषा की रवानी है, स्फूर्ति है, वह महत्त्वपूर्ण है। मैं कहना चाहता हूँ कि अगर उस दौर की कविता को आज की कविता से मिलाकर देखें तो फ़ारसी, अरबी के शब्द वहाँ ज़्यादा मिलेंगे, हिंदी की कविता में आज लिखने वालों के यहाँ तो ये हैं ही नहीं। हम लोगों ने अपनी परम्परा से यह भी सीखा है। इन भाषाओं का जो आदान-प्रदान था और भाषाओं के साथ संस्कृतियों का था। दिल मिलते थे इसलिए वे एक जगह इकट्ठा होकर पढ़ते थे, सुनाते थे। उनमें सम्मिलित की एक गूँज सुनाई पड़ती है। गूँज-अनुगूँज से भरी हैं वो कविताएँ। उनको समझने के लिए इन चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी। बिहारी को आप समझ ही नहीं सकते अगर आप फ़ारसी की कविता से वाक़िफ़ नहीं है। आज तो उर्दू की पढ़ाई ही उत्तर प्रदेश में बंद हो गयी, हम लोगों के ज़माने में स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। वह एक ज़माना था, उस दौर को देखते हुए यह ज़रूरी भी था। होना तो यह चाहिए कि जो ख़ूबसूरत चीज़ आपको परम्परा में मिली रही हो अपनी कविता में ले आयें, नये भाव ले आयें, नये इमेजेज़ ले आयें जिसे गंगा-जमुनी तहज़ीब कहते हैं उसे विकसित करें।

***पक्षधर वार्ता* के अंक (संकलन) 4, जनवरी-अप्रैल, 2008 से साभार**

साहित्य की पहचान : नामवर सिंह, सम्पादन : आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन